पं.क्र. (04/21/05/207665/19)

अन्तरा शब्दशक्ति
प्रकाशन एवं बहुउद्देशीय संस्था
www.antrashabdshakti.com

शब्द
से संवेदना तक...
लेखन से
परिवर्तन तक...

हिन्दी
हमारी पहचान
हमारी शक्ति

'समसामयिक प्रश्नों पर आपकी कलम'

(लेख प्रतियोगिता)

विचार...
चिंतन...
संवाद...
और
एक बेहतर
कल की ओर...

रचनाकार :-
मनीष के.

आयोजक:-
अन्तरा शब्दशक्ति प्रकाशन
वारासिवनी (म.प्र.)

पं.क्र. (04/21/05/207665/19)

अन्तरा शब्दशक्ति
प्रकाशन एवं बहुददेशीय संस्था
www.antrashabdshakti.com

कलम की शक्ति, समाज की दिशा

हिन्दी हमारी पहचान हमारी शक्ति

शब्द से संवेदन तक...
लेखन से परिवर्तन तक...

संपादक : डॉ. प्रीति समकित सुराना
तकनीकी संपादक : Webcoodee.com
मुख्य कार्यालय : 15 नेहरू चौक, वारासिवनी,
जिला बालाधाट (म.प्र.) 481331

Antrashabdshaktiprakashan

संपर्क : 9009423393
ईमेल : antrashabdshakti@gmail.com
वेबसाइट : www.antrashabdshakti.com

वैधानिक सूचना

पुस्तक में प्रकाशित सभी रचनाएँ संबंधित रचनाकारों की मौलिक अभिव्यक्तियाँ हैं।
प्रत्येक रचना में व्यक्त विचार, कथ्य एवं अभिमत के लिए संबंधित रचनाकार स्वयं उतरदायी हैं।
रचनाओं के चयन एवं प्रकाशन का उद्देश्य साहित्यिक अभिव्यक्ति को मंच प्रदान करना
एवं हिन्दी लेखन को प्रोत्साहित करना हैं।

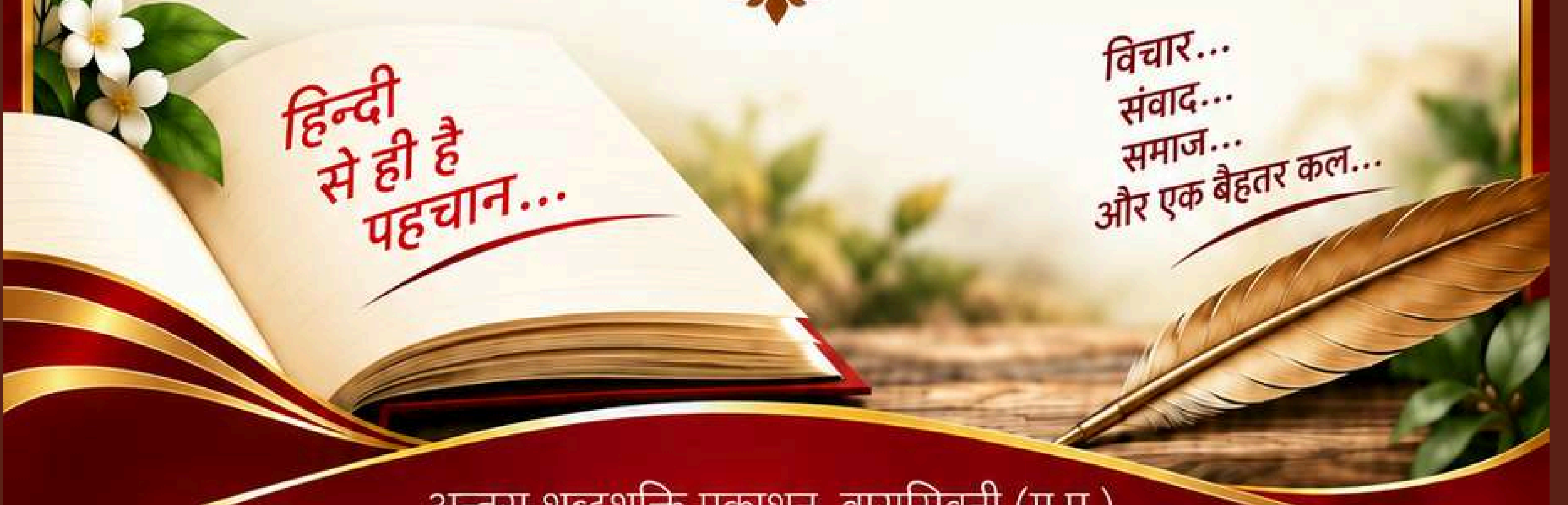

पं.क्र. (04/21/05/207665/19)
अन्तरा शब्दशक्ति
www.antrashabdshakti.com
प्रकाशन एवं बहुद्देशीय संस्था

लेख प्रतियोगिता

लेखक/लेखिका – **मनीष के.**

जब शिक्षा मनुष्य बनाना भूल जाए

जब शिक्षा मनुष्य बनाना भूल जाए

व्यक्तिगत प्रगति की सबसे बड़ी बाधा : मानसिक गुलामी, विवेकहीनता और संवेदनहीन शिक्षा कहानी में हमेशा तीन पक्ष होते हैं—पक्ष, विपक्ष और सत्य!

इतिहास मनुष्य को अतीत की वास्तविकताओं का दर्शन कराता है। वह केवल यह नहीं बताता कि क्या हुआ, बल्कि यह भी सिखाता है कि जो हुआ, उससे हमने क्या सीखा और क्या नहीं सीखा। शायद इसीलिए इतिहास को अतीत का आईना कहा जाता है। लेकिन आईना तभी उपयोगी है, जब हम उसमें अपना चेहरा देखने का साहस रखें।
आज जब हम व्यक्तिगत प्रगति की बात करते हैं, तो सामान्यतः हमारी दृष्टि नौकरी, वेतन, पद, प्रतिष्ठा, डिग्री, विदेश-यात्रा, मकान, गाड़ी और सामाजिक हैसियत तक जाकर रुक जाती है। पर क्या यही प्रगति है?

यदि किसी व्यक्ति के पास डिग्रियाँ बहुत हैं, लेकिन विवेक नहीं; सूचना बहुत है, लेकिन संवेदना नहीं; भाषा बहुत है, लेकिन संवाद नहीं; पैसा बहुत है, लेकिन संतोष नहीं; तकनीक बहुत है, लेकिन मनुष्य को समझने की क्षमता नहीं, तो क्या वह वास्तव में प्रगति कर रहा है?

मेरे विचार से आज व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रगति को रोकने वाली सबसे बड़ी और विकराल समस्या केवल बेरोजगारी, गरीबी या संसाधनों की कमी नहीं है। उससे भी गहरी समस्या है—मानसिक गुलामी और विवेकहीनता। और इस समस्या को बढ़ाने में ऐसी शिक्षा-व्यवस्था की बड़ी भूमिका है, जो मनुष्य को सफल तो बनाना चाहती है, पर उसे मनुष्य बनाए रखने की चिंता कम करती है।

भारतीय शिक्षा का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की यात्रा बहुत लंबी और विविध रही है। सुविधा के लिए भारतीय शिक्षा के इतिहास को मोटे तौर पर पाँच प्रमुख कालखंडों में बाँटा जा सकता है
—

1. वैदिक काल – लगभग 1500 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व तक
2. बौद्ध काल – लगभग 600 ईसा पूर्व से 1200 ईस्वी तक
3. मध्यकालीन/मुस्लिम शासन का काल – लगभग 1200 से 1800 ईस्वी तक
4. ब्रिटिश/औपनिवेशिक काल – लगभग 1800 से 1947 तक
5. स्वतंत्रोत्तर काल – 1947 से वर्तमान तक

यह विभाजन सुविधा के लिए है। इतिहास की वास्तविकता इन कालखंडों से कहीं अधिक जटिल रही है और अलग-अलग क्षेत्रों में शिक्षा की परंपराएँ एक-दूसरे के साथ चलती रही हैं। फिर भी इस क्रम से हम यह समझ सकते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य और स्वरूप में समय के साथ किस प्रकार परिवर्तन आया।

1. वैदिक काल

वैदिक काल की शिक्षा-व्यवस्था में व्यक्ति की आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति पर विशेष जोर दिया जाता था। गुरुकुल केवल पढ़ने-पढ़ाने की जगह नहीं था, वह जीवन जीने का प्रशिक्षण भी था। शिक्षण काल में छात्र को सामाजिकता, विनम्रता, भद्रता, सहनशीलता, सहकारिता और अनुशासन का पाठ पढ़ाया जाता था।
भिक्षाटन द्वारा छात्रों को विनय का पाठ पढ़ाने की परंपरा अपने आप में विचारणीय है। आज उस व्यवस्था को उसी रूप में अपनाना न संभव है और न आवश्यक, लेकिन उसके पीछे छिपे भाव को समझना आवश्यक है। विद्या के साथ विनम्रता होनी चाहिए, अहंकार नहीं।
आज हमारे पास ज्ञान प्राप्त करने के असंख्य साधन हैं, लेकिन क्या ज्ञान के साथ विनम्रता भी बढ़ रही है? यह प्रश्न आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

2. बौद्ध काल

इसके बाद बौद्ध परंपरा के प्रभाव में शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता, शील, अनुशासन और आचरण को विशेष महत्व मिला। ज्ञान के साथ चरित्र निर्माण पर बल दिया गया। नालंदा जैसे शिक्षा-केंद्र इस समृद्ध परंपरा के उदाहरण हैं, जहाँ विभिन्न विषयों और बौद्धिक परंपराओं का अध्ययन और विमर्श होता था।

यहाँ से हमें एक महत्वपूर्ण बात समझ में आती है। शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान का संग्रह नहीं है। ज्ञान तभी सार्थक है, जब वह व्यक्ति के आचरण में दिखाई दे।
किसी व्यक्ति ने कितना पढ़ा है, यह उसकी डिग्री बता सकती है; लेकिन उसने कितना सीखा है, यह उसका व्यवहार बताता है।

3. मध्यकालीन/मुस्लिम शासन का काल

मध्यकाल में भारतीय उपमहाद्वीप की शिक्षा पर अनेक राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभाव पड़े। अरबी और फारसी के अध्ययन को महत्व मिला तथा मदरसों और अन्य शिक्षण संस्थाओं का विकास हुआ। आगे चलकर उर्दू भी महत्वपूर्ण भाषा के रूप में सामने आई।
इस पूरे काल को केवल एक ही रंग में देखना उचित नहीं होगा। भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग शिक्षा-परंपराएँ समानांतर चलती रहीं। फिर भी सत्ता, भाषा और शिक्षा के बीच संबंध इस काल में भी स्पष्ट दिखाई देता है।
और यहीं एक प्रश्न सामने आता है—शिक्षा सत्ता का उपकरण है या व्यक्ति की मुक्ति का माध्यम?
यह प्रश्न आज भी हमारे सामने खड़ा है।

4. ब्रिटिश काल

औपनिवेशिक शासन के विस्तार के साथ भारतीय शिक्षा-व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ता गया। 1835 में थॉमस बैबिंगटन मैकाले ने Minute on Indian Education लिखा। इसमें उन्होंने भारतीय और अरबी साहित्य के प्रति अत्यंत अवमाननापूर्ण दृष्टिकोण व्यक्त किया और यूरोपीय साहित्य को श्रेष्ठ बताया।
अब इस पूरे प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर देना जरूरी है। **समस्या अंग्रेजी भाषा नहीं थी**। अंग्रेजी सीखना ज्ञान के नए द्वार खोल सकता था और आज भी खोलता है। समस्या तब पैदा होती है, जब अंग्रेजी ज्ञान का माध्यम न रहकर श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र बन जाती है।
अच्छा, अंग्रेजी से हम सबका रिश्ता भी हमेशा कुछ सौतेली माँ वाला रहा है। प्यार पाना चाहा तो बहुत, मगर मिला नहीं। फिर भी अंग्रेजी में कही गई बात हमें कई बार अपने ही ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण लगती है।

और आज स्थिति यह है कि अंग्रेजी में लिखा परचून की दुकान का हिसाब भी कई बार हमें बड़ा साहित्य लगता है!

दूसरी ओर, अपनी ही भाषाओं में लिखा साहित्य, दर्शन, लोकज्ञान और चिंतन हमें "पुराना" या "पिछड़ा" लगने लगता है।

यहीं से मानसिक गुलामी का एक रूप जन्म लेता है।

जब हम अपनी बुद्धि की कसौटी अपने हाथ से छोड़कर दूसरे के हाथ में दे देते हैं, तब शिक्षा मुक्ति का माध्यम न रहकर मानसिक पराधीनता का माध्यम बन सकती है।

5. स्वतंत्रोत्तर काल

1947 में भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता मिली। संविधान बना, लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित हुई, विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का विस्तार हुआ। शिक्षा का अधिकार कानूनी रूप से मजबूत हुआ और उच्च शिक्षा तक पहुँच पहले की तुलना में बहुत अधिक बढ़ी।

आज भारत में विद्यालयों और विद्यार्थियों की संख्या करोड़ों में है। उच्च शिक्षा में भी पिछले वर्षों में उल्लेखनीय विस्तार हुआ है। इसलिए यह कहना कि स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के क्षेत्र में कुछ हुआ ही नहीं, इतिहास और वर्तमान दोनों के साथ अन्याय होगा।

बहुत कुछ हुआ है।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा की मात्रा बढ़ने के साथ उसकी गुणवत्ता, समानता और मानवीयता भी उसी अनुपात में बढ़ी?

यहीं से हमारी असली चिंता शुरू होती है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का संकट

आज बच्चा विद्यालय जाता है। फिर कोचिंग जाता है। फिर टेस्ट देता है। फिर ऑनलाइन पढ़ता है। फिर परीक्षा देता है। और अंत में उससे पूछा जाता है—"कितने नंबर आए?"

बहुत कम बार पूछा जाता है—"क्या समझे?"

और उससे भी कम बार—"क्या सोचा?"

यही हमारी शिक्षा की सबसे बड़ी विडंबनाओं में से एक है।

आज हमारे पास सूचना पहले से कहीं अधिक है। इंटरनेट पर दुनिया की पुस्तकालय हमारे मोबाइल में आ गई है। लेकिन सूचना और ज्ञान एक ही चीज नहीं हैं।

सूचना बताती है कि क्या है। ज्ञान बताता है कि क्यों है। विवेक तय करता है कि उसका क्या किया जाना चाहिए।

शिक्षा का अंतिम उद्देश्य इसी विवेक तक पहुँचना होना चाहिए।
आज शिक्षा के बाजार का विस्तार किसी से छिपा नहीं है। कोचिंग संस्थान, निजी विद्यालय, ऑनलाइन पाठ्यक्रम और विभिन्न प्रकार के शैक्षिक मंचों ने शिक्षा के नए अवसर पैदा किए हैं। यह अपने आप में बुरी बात नहीं है। अच्छी शिक्षा के लिए संसाधन चाहिए।
समस्या तब शुरू होती है, जब विद्यार्थी ग्राहक और शिक्षा उत्पाद बन जाए।
फिर सवाल होता है—कितने अंक? कितनी रैंक? कौन-सा कॉलेज? कितना पैकेज?
बच्चा धीरे-धीरे मनुष्य से "परफॉर्मेंस यूनिट" में बदलने लगता है।

जिस शिक्षा में विद्यार्थी का मूल्य केवल उसके परिणाम से तय हो, वहाँ विद्यार्थी धीरे-धीरे अपने जीवन का मूल्य भी परिणामों से तय करने लगता है।

फिर असफलता केवल एक परीक्षा में असफलता नहीं रहती। वह आत्म-मूल्य पर हमला बन जाती है।
शिक्षा हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा दे, यह आवश्यक है; लेकिन शिक्षा यदि हमें केवल दूसरों से आगे निकलना सिखाए और स्वयं से आगे बढ़ना न सिखाए, तो कहीं न कहीं कुछ बहुत महत्वपूर्ण छूट रहा है।
सरकारी विद्यालयों की स्थिति भी इसी प्रश्न का दूसरा पक्ष सामने रखती है। भारत में शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 छह से चौदह वर्ष के बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का कानूनी ढाँचा प्रदान करता है। फिर भी विद्यालयों की सुविधाओं, शिक्षकों की उपलब्धता और शैक्षिक गुणवत्ता में क्षेत्रीय अंतर आज भी दिखाई देते हैं।
UDISE+ 2024–25 के अनुसार देश में एक लाख से अधिक ऐसे विद्यालय थे जहाँ केवल एक शिक्षक दर्ज था। इसका अर्थ यह नहीं कि हम किसी एक शिक्षक को दोष दें। प्रश्न इससे कहीं बड़ा है।
विद्यालय चाहिए। शिक्षक चाहिए। प्रशिक्षण चाहिए। पुस्तकालय चाहिए। प्रयोगशालाएँ चाहिए। डिजिटल सुविधाएँ चाहिए। सुरक्षित वातावरण चाहिए। और सबसे बढ़कर, शिक्षा को खर्च नहीं बल्कि राष्ट्र-निर्माण का निवेश मानने की मानसिकता चाहिए।

अध्यापक को पढ़ाने के लिए समय चाहिए। सरकार यदि उसे लगातार गैर-शैक्षणिक कार्यों में लगाएगी, तो कक्षा प्रभावित होगी। लेकिन शिक्षक भी अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता।

महाभारत की परंपरा में गुरु को मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाने वाला माना गया है। इसलिए केवल यह कह देना कि "छात्र सुनते ही नहीं" आपके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो सकती।

हमारी संस्कृति में सम्मान जनरल स्टोर पर नहीं मिलता। उसे अर्जित करना पड़ता है।

शिक्षक को छात्र से सम्मान चाहिए तो पहले उसे अपने आचरण की शुद्धता का उदाहरण रखना होगा। समय का पाबंद, विद्वान, विनम्र और अनुशासित शिक्षक अपने विद्यार्थियों पर केवल विषय से नहीं, अपने व्यक्तित्व से भी प्रभाव डालता है।

लेकिन जिम्मेदारी केवल शिक्षक की भी नहीं है।

अभिभावक भी इस परीक्षा में हैं।

कितने माता-पिता बच्चे से पूछते हैं—"आज क्या सीखा?"

और कितने पूछते हैं—"कितने नंबर आए?"

कितने पूछते हैं—"तुम्हें यह विषय पसंद है?"

और कितने कहते हैं—"शर्म की बात है, शर्मा जी के बेटे के इतने नंबर आए हैं!"

बच्चे की तुलना दूसरे बच्चे से करते-करते हम उसके भीतर यह भावना भर देते हैं कि उसका मूल्य उसके प्रदर्शन पर निर्भर है।

प्रतियोगिता जीवन का हिस्सा है, लेकिन तुलना जीवन का आधार नहीं हो सकती।

इसीलिए शिक्षा सुधार की जिम्मेदारी केवल सरकार की नहीं है। सरकार, शिक्षक, अभिभावक, समाज और विद्यार्थी, सभी को अपने हिस्से की जिम्मेदारी स्वीकार करनी होगी।

शिक्षा में समानता का प्रश्न

शिक्षा पर चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक हम यह न देखें कि हर बच्चे तक शिक्षा समान रूप से पहुँच भी रही है या नहीं।

ग्रामीण क्षेत्रों, आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों और सामाजिक रूप से वंचित समुदायों के बच्चों के सामने आज भी अनेक चुनौतियाँ हैं। लड़कियों के लिए सुरक्षा, परिवहन, सामाजिक धारणाएँ, आर्थिक दबाव और विद्यालय की सुविधाएँ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

इसलिए “बेटी पढ़ाओ” केवल नारा नहीं होना चाहिए।
उसे सुरक्षित विद्यालय चाहिए। उसे परिवहन चाहिए। उसे डिजिटल पहुँच चाहिए। उसे आर्थिक सहयोग चाहिए। और उससे भी अधिक, उसे यह विश्वास चाहिए कि उसकी शिक्षा उसके जीवन के निर्णय स्वयं लेने की शक्ति बनेगी।
उच्च शिक्षा में महिलाओं की भागीदारी में पिछले वर्षों में वृद्धि हुई है। यह निश्चित रूप से एक सकारात्मक परिवर्तन है। लेकिन प्रवेश बढ़ना अंतिम लक्ष्य नहीं है।
प्रश्न यह भी है—क्या वह अपने विचार स्वतंत्र रूप से रख सकती है? क्या उसे सुरक्षित वातावरण मिलता है? क्या उसकी शिक्षा उसे आर्थिक और बौद्धिक रूप से आत्मनिर्भर बनाती है?
यही वास्तविक शिक्षा है।

नीति से जीवन तक

2020 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने भारतीय शिक्षा के लिए एक व्यापक नई दिशा प्रस्तुत की। इसमें समग्र विकास, आलोचनात्मक चिंतन, भारतीय ज्ञान-परंपरा, मातृभाषाओं और भारतीय भाषाओं, कौशल, तकनीक तथा संविधानिक मूल्यों पर बल दिया गया है।
यह दिशा स्वागतयोग्य है।
लेकिन किसी भी नीति की सफलता उसकी भाषा में नहीं, उसके क्रियान्वयन में होती है।
कागज पर “समग्र शिक्षा” लिख देने से विद्यार्थी समग्र नहीं बन जाता। उसे प्रश्न पूछने की स्वतंत्रता देनी होगी। गलती करने की अनुमति देनी होगी। असफल होने पर फिर प्रयास करने का अवसर देना होगा।
उसे अपनी भाषा बोलने में शर्म नहीं, गर्व होना चाहिए।
उसे विज्ञान पढ़ाते समय अंधविश्वास पर प्रश्न करना आना चाहिए।
उसे अपनी परंपरा से प्रेम करना चाहिए, लेकिन उसकी आलोचना करने का साहस भी होना चाहिए।
बिना तर्क की कसौटी पर कसे अपने भारतीय ज्ञान, विचार और पद्धति को नकार देना कोई होशियारी नहीं है। लेकिन केवल इसलिए किसी बात को सत्य मान लेना कि वह प्राचीन है, यह भी वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है।

जो सत्य है, वह परीक्षण से नहीं डरता।

हमें अपने बच्चों को भारतीय ज्ञान-परंपरा से परिचित कराना चाहिए, लेकिन उन्हें प्रश्न करने से नहीं रोकना चाहिए। आधुनिक विज्ञान से परिचित कराना चाहिए, लेकिन विज्ञान को केवल परीक्षा का विषय नहीं बनाना चाहिए।
इतिहास पढ़ाना चाहिए, लेकिन इतिहास को केवल गौरव या अपराधबोध का साधन नहीं बनाना चाहिए।
यही संतुलन शिक्षा को जीवंत बनाता है।

2026 की चुनौती—जब मशीन उत्तर दे सकती है

2018 में जब मैंने शिक्षा पर लिखना शुरू किया था, तब कृत्रिम बुद्धिमत्ता (A.I) हमारे दैनिक जीवन में आज की तरह उपस्थित नहीं थी। आज परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। तकनीक हमारे जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुकी है और कृत्रिम बुद्धिमत्ता हमारे सीखने, सोचने और काम करने के तरीकों को भी प्रभावित कर रही है।
कृत्रिम बुद्धिमत्ता कुछ ही क्षणों में निबंध लिख सकती है, अनुवाद कर सकती है, प्रश्नों के उत्तर दे सकती है, चित्र बना सकती है, कोड लिख सकती है और विद्यार्थी को किसी विषय को समझाने में सहायता कर सकती है।
तो क्या अब शिक्षा का महत्व कम हो जाएगा?
मुझे लगता है—इसके विपरीत, शिक्षा पहले से अधिक महत्वपूर्ण हो जाएगी।
क्योंकि जब मशीन उत्तर देने लगेगी, तब मनुष्य की असली आवश्यकता होगी—सही प्रश्न पूछने की क्षमता।
जब इंटरनेट पर लाखों सूचनाएँ उपलब्ध होंगी, तब विद्यार्थी को यह समझना होगा कि कौन-सी सूचना विश्वसनीय है, कौन-सी भ्रामक है, किसी आँकड़े का स्रोत क्या है, किसी निष्कर्ष के पीछे प्रमाण क्या है और किसी उत्तर में पूर्वाग्रह कहाँ छिपा है।
और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह होगा कि जो तकनीकी रूप से संभव है, क्या वह नैतिक रूप से भी उचित है?
मशीन उत्तर दे सकती है, लेकिन उत्तर का मानवीय अर्थ कौन तय करेगा?
मनुष्य।

इसलिए आने वाली शिक्षा में केवल डिजिटल साक्षरता पर्याप्त नहीं होगी। मीडिया साक्षरता, सूचना साक्षरता, वैज्ञानिक दृष्टि, नैतिक विवेक और आलोचनात्मक चिंतन भी उतने ही आवश्यक होंगे।
तकनीक हमारी सहायक हो सकती है, लेकिन उसे हमारे विवेक का स्थान नहीं लेना चाहिए।

मानसिक गुलामी का नया चेहरा

पहले मानसिक गुलामी का अर्थ किसी विदेशी सत्ता या संस्कृति को श्रेष्ठ मान लेना माना जा सकता था। आज इसका चेहरा अधिक सूक्ष्म है।
आज हम सोशल मीडिया पर किसी की जिंदगी देखते हैं और अपनी जिंदगी को कमतर समझने लगते हैं। किसी की सफलता देखकर अपनी यात्रा को असफल मान लेते हैं। किसी की चमक देखकर अपने सामान्य जीवन से असंतुष्ट हो जाते हैं।
हम अपनी पसंद की खबरें पढ़ते हैं, अपनी पसंद के लोगों को सुनते हैं और अपनी पसंद की विचारधारा को देखते हैं। धीरे-धीरे हमें लगने लगता है कि जो हमारी स्क्रीन पर बार-बार दिखाई दे रहा है, वही सत्य है।
यह मानसिक स्वतंत्रता नहीं है।
विचार की स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं कि हम जो चाहें वही मानें। विचार की स्वतंत्रता का अर्थ है कि हम अपने विश्वास पर भी प्रश्न उठा सकें।

जिस दिन मनुष्य अपने ही विचारों से प्रश्न करना छोड़ देता है, उसी दिन उसकी बौद्धिक यात्रा रुकने लगती है।

यही कारण है कि व्यक्तिगत प्रगति केवल कौशल का प्रश्न नहीं है। यह मानसिक स्वतंत्रता का भी प्रश्न है।
यदि मैं हर निर्णय इसलिए लेता हूँ क्योंकि समाज ऐसा चाहता है, यदि मैं वही करियर चुनता हूँ जिसे लोग प्रतिष्ठित मानते हैं, यदि मैं वही जीवन जीता हूँ जिसे देखकर दूसरे मेरी प्रशंसा करें, तो संभव है कि बाहर से मैं सफल दिखाई दूँ, लेकिन भीतर से मैं अपने ही जीवन का मालिक न रहूँ।

ज्ञान और संवेदना

एक डॉक्टर बहुत ज्ञानवान हो सकता है, लेकिन रोगी के भय को समझे बिना उसका ज्ञान अधूरा है।
एक इंजीनियर शानदार पुल बना सकता है, लेकिन समाज की वास्तविक आवश्यकता न समझे तो उसका कौशल अधूरा है।
एक प्रशासक कानून जान सकता है, लेकिन नागरिक की गरिमा न समझे तो उसका ज्ञान अधूरा है।
एक शिक्षक हजारों तथ्य याद करा सकता है, लेकिन विद्यार्थी के भीतर जिज्ञासा न जगा पाए तो उसकी शिक्षा अधूरी है।
और एक विद्यार्थी करोड़ों रुपये का पैकेज पा सकता है, लेकिन अपने समाज, प्रकृति और मनुष्य के प्रति संवेदनशीलता खो दे तो उसकी सफलता भी अधूरी है।

ज्ञान जब संवेदना से कट जाता है, तो वह शक्ति तो बन सकता है, लेकिन कल्याण का माध्यम नहीं।

हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जिसमें ज्ञान हो, लेकिन अहंकार न हो।
विज्ञान हो, लेकिन संवेदना भी हो।
प्रतिस्पर्धा हो, लेकिन करुणा भी हो।
तकनीक हो, लेकिन विवेक भी हो।
रोजगार हो, लेकिन चरित्र भी हो।
भारतीयता हो, लेकिन संकीर्णता न हो।
वैश्विक दृष्टि हो, लेकिन अपनी जड़ों से घृणा न हो।
हमें ऐसे विद्यार्थी नहीं चाहिए जो केवल परीक्षा पास कर लें। हमें ऐसे मनुष्य चाहिए जो जीवन की परीक्षा में भी खरे उतरें।

एक लोककथा और शिक्षा का बड़ा सत्य

कथा है कि एक बार एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—
“गुरुवर! आप सारे संसार को मेहनत का संदेश देते हैं। करुणा का संदेश देते हैं। प्रेम का संदेश देते हैं। इससे क्या लाभ है?”

गुरु ने शिष्य के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। उन्होंने उसका हाथ थामा और उसे एक ऐसी जगह ले गए जहाँ दूर-दूर तक केवल रेत ही रेत बिखरी पड़ी थी।

गुरु ने शिष्य से कहा—

“पुत्र, आज शाम तक तुम इस रेत से एक प्रतिमा बनाकर आश्रम ले आना। फिर मैं बताऊँगा कि मैं पूरी दुनिया को मेहनत, प्रेम और करुणा का संदेश क्यों देता हूँ।”

शिष्य प्रतिमा बनाने में जुट गया।

वह बार-बार रेत को इकट्ठा करके प्रतिमा बनाने की कोशिश करता, लेकिन रेत बार-बार बिखर जाती।

ऐसा करते-करते उसके माथे पर पसीने की कुछ बूंदें आ गईं। वह आज्ञाकारी शिष्य था। उसे लगा कि वह गुरु की आज्ञा पूरी नहीं कर पाया है, तो उसकी आँखों में आँसू भी आ गए।

पसीने की बूंद और आँखों के आँसू जब हथेली पर गिरे, तो हाथों में लगी रेत कुछ गीली हो गई।

शिष्य समझ गया।

उसे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया।

वह गुरु के पास उत्तर पूछने नहीं गया, बल्कि दुनिया वालों के पास गया और कहा—

“हमारा जीवन एक सूखी मिट्टी की तरह है। अगर इसमें माथे पर मेहनत के पसीने की बूंदें नहीं, आँखों में करुणा के आँसू नहीं और हृदय में प्यार की छलकन नहीं, तो बाकी सब कुछ होते हुए भी यह बेकार है।”

शायद यही शिक्षा का मर्म है।

शिक्षा हमें केवल यह नहीं सिखाती कि जीना कैसे है। वह हमें यह भी सिखाती है कि **क्यों जीना है और किसके लिए जीना है।**

अंततः ***********

यदि मुझसे फिर पूछा जाए कि वर्तमान में सबसे बड़ी और विकराल समस्या क्या है, जो मेरी व्यक्तिगत प्रगति को रोक सकती है, तो मेरा उत्तर होगा—**मानसिक गुलामी।**

लेकिन यह मानसिक गुलामी केवल किसी विदेशी भाषा या विदेशी संस्कृति की नकल नहीं है।

यह अपने विवेक को किसी और के हाथ सौंप देना है।

यह बिना जाँचे मान लेना है।
यह अपने भीतर उठने वाले प्रश्न को दबा देना है।
यह असफलता के डर से प्रयास न करना है।
यह भीड़ के साथ इसलिए चलना है क्योंकि अकेले चलने का साहस नहीं।
यह अपनी भाषा बोलने में शर्म और दूसरे की नकल करने में गर्व महसूस करना है।
यह अपनी परंपरा को समझे बिना उसका उपहास करना और आधुनिकता को समझे बिना उसकी नकल करना है।
यह बच्चे से कहना है, “तुम वही बनो जिसे समाज सफल मानता है”, बजाय इसके कि उससे पूछा जाए, “तुम वास्तव में क्या बनना चाहते हो?”
और सबसे खतरनाक मानसिक गुलामी है—**अपने बारे में दूसरों के निर्णय को सत्य मान लेना।**
व्यक्ति की वास्तविक प्रगति तब शुरू होती है, जब वह स्वयं से प्रश्न करता है—
मैं क्या हूँ?
मुझे क्या बनना है?
मैं जो मानता हूँ, क्यों मानता हूँ?
मेरी सफलता का अर्थ क्या है?
मेरे ज्ञान से किसका भला होगा?
मेरे पास जो है, उसमें समाज का कितना हिस्सा है?
और यदि मेरे पास बहुत कुछ है, लेकिन मेरे भीतर मनुष्य के लिए प्रेम नहीं है, तो मेरे पास वास्तव में है क्या?
शिक्षा का उद्देश्य हमें दूसरों जैसा बनाना नहीं होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य हमें हमारा सर्वश्रेष्ठ रूप बनने की क्षमता देना चाहिए।

हमारे मस्तिष्क को ज्ञान मिले, हमारे हाथों को कौशल मिले, हमारे हृदय को संवेदना मिले और हमारे विवेक को स्वतंत्रता मिले।
आज हमारे पास पहले से अधिक विद्यालय हैं, पहले से अधिक विश्वविद्यालय हैं, पहले से अधिक पुस्तकें हैं, पहले से अधिक सूचना है और पहले से अधिक तकनीक है। आने वाले समय में कृत्रिम बुद्धिमत्ता हमारे सामने ज्ञान के नए संसार खोलने वाली है।

लेकिन इस सारे विकास के बीच यदि हम यह भूल गए कि **मनुष्य बनना ही शिक्षा का अंतिम लक्ष्य** है, तो हमारी सारी उपलब्धियाँ अधूरी रह जाएँगी।

हमें ऐसी शिक्षा नहीं चाहिए जो बच्चे को केवल लक्ष्य प्राप्त करने वाला निर्जीव रोबोट बना दे।

हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जो उसे मेहनत करना सिखाए, लेकिन मेहनत का उद्देश्य भी बताए; प्रेम करना सिखाए, लेकिन विवेक के साथ; विज्ञान सिखाए, लेकिन विज्ञान के सामाजिक दायित्व का बोध भी कराए; प्रतिस्पर्धा सिखाए, लेकिन प्रतिद्वंद्वी को शत्रु न बनाए; असफलता सिखाए, ताकि सफलता सिर पर न चढ़े।

और सबसे बढ़कर, ऐसी शिक्षा दे जिसमें विद्यार्थी अपनी सफलता के साथ अपनी मनुष्यता भी बचाकर रख सके।

क्योंकि अंततः किसी देश की सबसे बड़ी संपत्ति उसकी इमारतें, सड़कें, मशीनें या तकनीक नहीं होतीं।

उसकी सबसे बड़ी संपत्ति उसके मनुष्य होते हैं।

और मनुष्य को मनुष्य बनाने का सबसे बड़ा माध्यम—**शिक्षा है।**

इसलिए शिक्षा का संकट केवल विद्यालय का संकट नहीं है।

यह मनुष्य का संकट है।

और यदि हमें अपनी व्यक्तिगत प्रगति, अपने समाज की प्रगति और अपने देश की प्रगति सचमुच चाहिए, तो हमें सबसे पहले उस मानसिक गुलामी से मुक्त होना होगा, जो हमें स्वयं सोचने, स्वयं प्रश्न करने और स्वयं सत्य की खोज करने से रोकती है।

आखिर—

> **कविता शब्दों की अदालत में,**
>
> **अपराधियों के कटघरे में,**
>
> **खड़े किसी निर्दोष आदमी का हलफ़नामा है।**
>
> **— धूमिल**

और शायद शिक्षा भी कुछ ऐसी ही होनी चाहिए—

अंकों की अदालत में विद्यार्थी का प्रमाणपत्र नहीं, बल्कि मनुष्य की अदालत में उसके विवेक का हलफ़नामा।

यही शिक्षा का सत्य है।
यही व्यक्तिगत प्रगति का सत्य है।
और शायद यही हमारे समय की सबसे बड़ी जरूरत भी।

- मनीष के.

लेखक परिचय

मनीष के. का जन्म (1993)बहराइच, उत्तर प्रदेश में हुआ। वे हिंदी के लेखक एवं कवि हैं। शिक्षा, समाज, मानवीय संवेदना और अपने समय के बदलते सवाल उनके लेखन के प्रमुख सरोकार हैं। उनका कविता-संग्रह “आदमी और खरगोश” वर्ष 2025 में प्रकाशित हुआ। उनके लेखन में आम आदमी के जीवन, सामाजिक विडंबनाओं और मनुष्य के भीतर बची संवेदना को विशेष स्थान मिलता है।

Facebook / Instagram: Manishk.writes

पं.क्र. (04/21/05/207665/19)
अन्तरा शब्दशक्ति
www.antrashabdshakti.com
प्रकाशन एवं बहुउद्देशीय संस्था

अन्तरा शब्दशक्ति
प्रकाशन

कलम की शक्ति, समाज की दिशा

सम्मान-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि

आ........**मनीष के.**........जी

ने हिन्दी पखवाड़े के अवसर पर आयोजित "**एक लेख प्रतियोगिता**" में उत्साहपूर्वक सहभागिता करते हुए **समसामयिक विषय पर अपने विचारों को** प्रभावी एवं सार्थक ढंग से अभिव्यक्त किया।
उनकी साहित्यिक **अभिव्यक्ति** एवं रचनात्मक सहभागिता की सराहना करते हुए **अन्तरा शब्दशक्ति प्रकाशन** की ओर से यह **सम्मान-पत्र** सादर प्रदान किया जाता है।

आपकी सृजनशीलता एवं साहित्यिक यात्रा के उज्ज्वल भविष्य की हार्दिक शुभकामनाएँ।

हिन्दी विचारों को विस्तार देती है... समाज को जोड़ती है...

हिंदी
हमारी पहचान...
हमारी शक्ति...

प्रीति सुराना
समकित सुराना

अन्तरा शब्दशक्ति प्रकाशन एवं संस्था
डॉ. प्रीति समकित सुराना

शब्द से संवेदन तक... लेखन से परिवर्तन तक...